जैन नीति-दर्शन के मनोवैज्ञानिक आधार

नैतिक-दर्शन का प्रमुख कार्य जीवन के साध्य का निर्धारण कर उस सन्दर्भ में हमारे आचरण का मूल्याङ्कन करना है। नैतिक-दर्शन और मनोविज्ञान दोनों के अध्ययन की विषय-वस्तु प्राणीय-व्यवहार है। मनोविज्ञान का कार्य व्यवहार की तथ्यात्मक प्रकृति का अध्ययन है तथा नैतिक दर्शन का कार्य व्यवहार के आदर्श (साध्य) का निर्धारण एवं व्यवहार का मूल्याङ्कन है, किन्तु आदर्श का निर्धारण तथ्यों की अवहेलना करके नहीं हो सकता है। हमें क्या होना चाहिए? यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम क्या हैं? हमारी क्षमताएँ क्या हैं? ऐसा साध्य या आदर्श जिसे उपलब्ध करने की क्षमताएँ हममें न हों, एक छलना ही होगा। जैन-दर्शन ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को अधिक गम्भीरता से समझा है और अपने नैतिक दर्शन को ठोस मनोवैज्ञानिक नींव पर खड़ा किया है।

नैतिक साधक (Moral Agent) का स्वरूप

जैन-दर्शन में हमें मानव-प्रकृति एवं प्राणीय-प्रकृति का गहन विश्लेषण प्राप्त होता है। जब महावीर से यह पूछा गया था कि आत्मा क्या है? और आत्मा का साध्य या आदर्श क्या है? तब महावीर ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था वह आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है। महावीर ने कहा था— आत्मा समत्व रूप है और समत्व ही आत्मा का साध्य है।[1] वस्तुत: जहाँ-जहाँ भी जीवन है, चेतना है, वहाँ-वहाँ समत्व-संस्थापन के अनवरत प्रयास चल रहे हैं। परिवेशजन्य विषमताओं को दूरकर समत्व के लिए प्रयासशील बने रहना यह जीवन या चेतना का मूल स्वभाव है। शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर समत्व का संस्थापन ही जीवन का लक्ष्य है। डॉ०राधाकृष्णन् के शब्दों में जीवन गतिशील सन्तुलन है'।[2] स्पेन्सर मानता है कि परिवेश में निहित तथ्य हमारे सन्तुलन को भङ्ग करते रहते हैं और जीवन अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुन: इस सन्तुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह सन्तुलन बनाने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है।[3] विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के लिए संघर्ष कहा है, किन्तु मेरी अपनी दृष्टि में इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहने की अपेक्षा समत्व के संस्थापन का प्रयास कहना ही अधिक उचित है। समत्व का संस्थापन एवं समायोजन की प्रक्रिया ही जीवन का महत्त्वपूर्ण लक्षण है। समायोजन और संतुलन के प्रयास की उपस्थिति ही जीवन है और उसका अभाव मृत्यु है। मृत्यु अन्य कुछ नहीं, मात्र शारीरिक स्तर पर सन्तुलन बनाने की इस प्रक्रिया का असफल होकर टूट जाना है।[4] अध्यात्मशास्त्र के अनुसार जीवन न तो जन्म है और न मृत्यु। प्रथम उसका एक शरीर में प्रारम्भ बिन्दु है तो दूसरा उसके अभाव की उद्घोषणा करने वाला तथ्य। जीवन दोनों से ऊपर है जन्म और मृत्यु तो एक शरीर में उसके आगमन और चले जाने की सूचनाएँ भर हैं, वह उनसे अप्रभावित है। सच्चा जीवन तो जागृति है, अप्रमत्त चेतना है। जैन-दर्शन इसे ही जीव या आत्मा का स्वरूप कहता है।

चेतना के तीन पक्ष और जैन-दर्शन

मनोवैज्ञानिकों ने चेतना का विश्लेषण कर उसके तीन पक्ष माने हैं— ज्ञान, अनुभूति और सङ्कल्प। चेतना को अपने इन तीन पक्षों से भिन्न कहीं देखा नहीं जा सकता है। चेतना इन तीन प्रक्रियाओं के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। चेतन-जीव ज्ञान, अनुभूति और सङ्कल्प की क्षमताओं के विकास के रूप में परिलक्षित होता है। जैन विचारकों की दृष्टि में चेतना के ये तीनों पक्ष नैतिक आदर्श एवं नैतिक साधना-मार्ग से निकट रूप से सम्बन्धित हैं। जैन आचार-दर्शन में चेतना के इन तीन पक्षों के आधार पर ही नैतिक आदर्श का निर्धारण किया गया है। जैन-दर्शन का आदर्श मोक्ष है और मोक्ष अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति की उपलब्धि है। वस्तुत: मोक्ष चेतना के इन तीनों पक्षों की पूर्णता का द्योतक है। जीवन के ज्ञानात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त ज्ञान एवं अनन्त दर्शन में, जीवन के भावात्मक या अनुभूत्यात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त सौख्य में और सङ्कल्पनात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त शक्ति में मानी गयी है। जैन नैतिक साधना पथ भी चेतना के इन्हीं तीन तत्त्वों— ज्ञान, भाव और सङ्कल्प के साथ सम्यक् विशेषण का प्रयोग करके निर्मित किया गया है। ज्ञान से सम्यक् ज्ञान, भाव से सम्यक् दर्शन और सङ्कल्प से सम्यक्चारित्र का निर्माण हुआ है। इस प्रकार जैन-दर्शन में साध्य, साधक और साधना पथ तीनों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार हुआ है।

नैतिक जीवन का साध्य: समत्व का संस्थापन

हमारे नैतिक आचरण का लक्ष्य क्या है? यह प्रश्न मनोविज्ञान और नैतिक दर्शन दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जैन-दर्शन में इसे मोक्ष कहकर अभिव्यक्त किया गया है, किन्तु यदि हम जैन-दर्शन के अनुसार मोक्ष का विश्लेषण करें तो मोक्ष 'वीतरागता की अवस्था है' और वीतरागता 'चेतना के पूर्ण समत्व की अवस्था है'। इस प्रकार जैन-दर्शन में समत्व को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना गया है। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरती है। संघर्ष नहीं, अपितु समत्व ही मानवीय जीवन का आदर्श हो सकता है, क्योंकि यह ही हमारा स्वभाव है और जो स्वभाव है, वही आदर्श है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। स्पेन्सर, डार्विन, मार्क्स प्रभृति कुछ विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं, लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वभाव वह होता है, जिसका निराकरण नहीं किया जाता है। जैन-दर्शन के

अनुसार नित्य और निरपवाद वस्तु-धर्म ही स्वभाव है। यदि हम इस कसौटी पर कसें तो संघर्ष जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य का स्वभाव संघर्ष है, मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है, संघर्ष ही जीवन का नियम है। किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। यदि संघर्ष ही जीवन का नियम है तो फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है? संघर्ष मिटाने के लिए होता है। जो मिटाने की या निराकरण करने की वस्तु है, उसे स्वभाव कैसे कहा जा सकता है। 'संघर्ष' यदि मानव-इतिहास का एक तथ्य है तो वह उसके दोषों का, उसके विभाव का इतिहास है, उसके स्वभाव का नहीं। मानव-स्वभाव संघर्ष नहीं, अपितु संघर्ष का निराकरण या समत्व की अवस्था है, क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिए होते रहे हैं। सच्चा मानव-इतिहास संघर्ष की कहानी नहीं, संघर्षों के निराकरण की कहानी है।

संघर्ष अथवा असमत्व से जीवन में विचलन पाए जाते हैं लेकिन वे जीवन का स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि जीवन की प्रक्रिया उनके समाप्त करने की दिशा में ही प्रयासशील है। समत्व की उपलब्धि ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का साध्य है। समत्व शुभ है और विषमता अशुभ है। कामना, आसक्ति, राग-द्वेष, वितर्क आदि सभी जीवन की विषमता, असन्तुलन एवं तनाव की अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं, अत: जैन-दर्शन में इन्हें अशुभ माना गया है। इसके विपरीत वासना-शून्य, वितर्क-शून्य, निष्काम, अनासक्त, वीतराग अवस्था ही नैतिक है, शुभ है, वही जीवन का आदर्श है, क्योंकि वह समत्व की स्थिति है। जैन-दर्शन के अनुसार समत्व एक आध्यात्मिक सन्तुलन है। राग और द्वेष की वृत्तियाँ हमारे चेतना के समत्व को भङ्ग करती हैं। अत: उनसे ऊपर उठकर वीतरागता की अवस्था को प्राप्त कर लेना ही सच्चे समत्व की अवस्था है। वस्तुत समत्व की उपलब्धि जैन-दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से मानव-जीवन का साध्य मानी जा सकती है।

नैतिक जीवन का साध्य: आत्मपूर्णता

जैन-दर्शन के अनुसार मोक्ष आत्मपूर्णता की अवस्था भी है। पूर्ण-समत्व के लिए आत्मपूर्णता भी आवश्यक है, क्योंकि अपूर्णता या अभाव भी एक मानसिक तनाव है। हमारे व्यावहारिक जीवन में हमारे सम्पूर्ण प्रयास हमारी चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक और सङ्कल्पात्मक शक्तियों के विकास के निमित्त होते हैं। हमारी चेतना सदैव इस दिशा में प्रयत्नशील होती है कि वह अपने इन तीनों पक्षों की देश-कालगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सके। व्यक्ति अपनी ज्ञानात्मक, भावात्मक और सङ्कल्पात्मक क्षमता की पूर्णता चाहता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य अपनी सीमितता और अपूर्णता से छुटकारा पाना चाहता है। वस्तुत: मानव-मन की इस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति ही जैन-दर्शन में मोक्ष के प्रत्यय के रूप में अभिव्यक्त हुई है। सीमितता और अपूर्णता, जीवन की वह प्यास है जो पूर्णता के जल से परिशान्त होना चाहती है। हमारी चेतना में जो अपूर्णता का बोध है, वह स्वयं ही हमारे में निहित पूर्णता की चाह का सङ्केत भी है। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले का कथन है कि चेतना अनन्त है, क्योंकि वह अनुभव करती है कि उसकी क्षमताएँ सान्त एवं सीमित हैं। लेकिन सीमा या अपूर्णता को जानने के लिए असीम एवं पूर्ण का बोध भी आवश्यक है। जब हमारी चेतना यह ज्ञान रखती है कि वह सान्त, सीमित एवं अपूर्ण है, तो उसका यह सीमित होने का ज्ञान स्वयं उसे इस सीमा के परे ले जाता है। इस प्रकार ब्रेडले स्व में निहित पूर्णता की चाह का सङ्केत करते हैं।[५] आत्मा पूर्ण है अर्थात् अनन्त-चतुष्टय से युक्त है, यह बात जैन-दर्शन के एक विद्यार्थी के लिए नवीन नहीं है। वस्तुत: जैन-दर्शन के अनुसार पूर्णता हमारी क्षमता है, योग्यता नहीं। पूर्णता के प्रकाश में ही हमें अपनी अपूर्णता का बोध होता है, यह अपूर्णता का बोध पूर्णता की चाह का सङ्केत अवश्य है, लेकिन पूर्णता की उपलब्धि नहीं। जैन-दर्शन की दृष्टि से ज्ञान, भाव और संकल्प का अनन्त ज्ञान, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति के रूप में विकसित हो जाना ही आत्मपूर्णता है। आत्म-शक्तियों का अनावरण एवं उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति में ही आत्मपूर्णता है और यही नैतिक जीवन का साध्य है। इस प्रकार जैन-दर्शन में आत्मपूर्णता का नैतिक साध्य भी मानवीय चेतना के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है।

साध्य, साधक और साधना का पारस्परिक सम्बन्ध

जैन आचार-दर्शन में साध्य और साधक में अभेद माना गया है। समयसार टीका में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं कि पर-द्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है।[६] आचार्य हेमचन्द्र साध्य और साध्यक में अभेद बताते हुए लिखते हैं कि कषायों और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और उनको विजित करने वाला आत्मा ही मोक्ष है।[७] अध्यात्मतत्त्वालोक में मुनि न्यायविजयजी लिखते हैं कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है। जहाँ तक आत्मा कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत है, संसार है और उनको ही जब अपने वशीभूत कर लेता है, मोक्ष कहा जाता है।[८] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन का नैतिक साध्य और साधक दोनों ही आत्मा हैं। दोनों में मौलिक अन्तर यही है कि आत्मा जब तक विषय और कषायों के वशीभूत होता है तब तक बन्धन में होता है और जब उन पर विजय-लाभ कर लेता है, तब वही मुक्त बन जाता है। आत्मा की विषय-वासनाओं के मल से युक्त अवस्था ही उसका बन्धन कही जाती है और आत्म-तत्त्व की विशुद्ध अवस्था ही मुक्ति कही जाती है। आसक्ति को बन्धन और अनासक्ति को मुक्ति मानना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

जैन आचार-दर्शन में साध्य और साधक दोनों में अन्तर इस बात को लेकर है कि आत्मा की विभाव-अवस्था ही साधक-अवस्था है और आत्मा की स्वभाव अवस्था ही सिद्धावस्था है। जैन नैतिक साधना का लक्ष्य अथवा आदर्श कोई बाह्य तत्त्व नहीं, वह तो साधक का अपना ही निज रूप है। उसकी ही अपनी पूर्णता की अवस्था है। साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं वरन् उसके अन्दर ही है।

साधक को उसे पाना भी नहीं है, क्योंकि पाया तो वह जाता है, जो व्यक्ति के अपने में न हो अथवा अपने से बाह्य हो। नैतिक साध्य बाह्य-उपलब्धि नहीं आन्तरिक-उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह निज-गुणों का पूर्ण प्रकटन है। यहाँ भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा के निज गुण या स्व-लक्षण तो सदैव ही उसमें उपस्थित हैं, साधक को केवल उन्हें प्रकटित करना है। हमारी क्षमताएँ साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में वही हैं। साधक और सिद्ध अवस्था में अन्तर क्षमताओं का ही नहीं, वरन् क्षमताओं को योग्यताओं में बदल देने का है। जैसे बीज ही वृक्ष के रूप में विकसित होता है वैसे ही मुक्तावस्था में आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप से प्रकटित हो जाते हैं। साधक आत्मा के ज्ञान, भाव (अनुभूति), और सङ्कल्प के तत्त्व ही मोक्ष की अवस्था में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति के रूप में प्रकट हो जाते हैं। वह आत्मा, जो कषाय रूप राग-द्वेष से युक्त है और इनसे युक्त होने के कारण बद्ध, सीमित और अपूर्ण है, वही अपने में निहित अनन्त ज्ञान, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति को प्रकट कर मुक्त एवं पूर्ण बन जाता है। उपाध्याय अमर मुनिजी कहते हैं कि जैन साधना में स्व में स्व को उपलब्ध करना है, निज में निज की शोध करना है, अपने में पूर्णरूपेण रमण करना है— आत्मा के बाहर एक कण में भी साधना की उन्मुखता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन विचारणा में तात्त्विक दृष्टि से साध्य और साधक दोनों एक ही हैं। पर्यायार्थिक दृष्टि या व्यवहारनय से उनमें भेद माना गया है। आत्मा की स्वभाव-पर्याय या स्वभाव-दशा साध्य है और आत्मा की विभाव-पर्याय की अवस्था ही साधक है, और विभाव से स्वभाव की ओर आना यही साधना है। जीव अपनी विभाव-पर्याय में आत्मा है, स्वभाव पर्याय में परमात्मा है और विभाव से स्वभाव की ओर जाने की अवस्था में महात्मा है।

साधना पथ और साध्य

जिस प्रकार साधक और साध्य में अभेद माना गया है, उसी प्रकार साधना मार्ग और साध्य में भी अभेद है। जीवात्मा अपने ज्ञान, अनुभूति और सङ्कल्प के रूप में साधक कहा जाता है, उसके यही ज्ञान, अनुभूति और संकल्प सम्यक् दिशा में नियोजित होने पर साधना-पथ बन जाते हैं, वही जब अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं तो सिद्धि बन जाते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप यह साधना पथ है और जब सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति अर्थात् अनन्त चतुष्टय की उपलब्धि कर लेते हैं तो यही अवस्था सिद्धि बन जाती है। आत्मा का ज्ञानात्मक पक्ष सम्यक् ज्ञान की साधना के द्वारा अनन्त ज्ञान को प्रकट कर लेता है, आत्मा का अनुभूत्यात्मक पक्ष सम्यक्-दर्शन की साधना के द्वारा अनन्त दर्शन की उपलब्धि कर लेता है। आत्मा का सङ्कल्पात्मक सम्यक् चारित्र की साधना के द्वारा अनन्त सौख्य की उपलब्धि कर लेता है और आत्मा की क्रियाशक्ति सम्यक् तप की साधना के द्वारा अनन्त शक्ति को उपलब्ध कर लेती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो साधक चेतना का स्वरूप है वही सम्यक् बनकर साधना-पथ बन जाता है और उसी की पूर्णता साध्य होती है।

जैन-दर्शन में मानवीय व्यवहार के प्रेरक तत्त्व

जैन-दर्शन में राग और द्वेष ये दो कर्मबीज माने गए हैं, किन्तु इनमें भी राग ही प्रमुख है। आचाराङ्ग सूत्र में कहा गया है कि आसक्ति ही कर्म का प्रेरक तत्त्व है।[९] जैन-दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि मानवीय व्यवहार का मूलभूत प्रेरक तत्त्व वासना या काम है। फिर भी जैन-दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों में वासना के मूलभूत प्रकार कितने हैं? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में जहाँ फ्रायड काम या राग को ही एकमात्र मूल प्रेरक मानते हैं, वहाँ दूसरे विचारकों ने मूलभूत प्रेरकों की संख्या सौ तक मान ली है फिर भी पाश्चात्य मनोविज्ञान में सामान्यतया १४ निम्न मूल प्रवृत्तियाँ मानी गयी हैं— १. पलायनवृत्ति (भय), २. घृणा, ३. जिज्ञासा, ४. आक्रामकता (क्रोध), ५. आत्म-गौरव (मान), ६. आत्महीनता, ७. मातृत्व की संप्रेरणा, ८. समूह भावना, ९. संग्रहवृत्ति, १०. रचनात्मकता, ११. भोजनान्वेषण १२. काम, १३. शरणागति और १४. हास्य (आमोद)।

जैन-दर्शन में व्यवहार के प्रेरक तत्त्वों (संज्ञाओं) का वर्गीकरण

जहाँ तक जैन-विचारणा का प्रश्न है उसमें भी हमें इनकी संख्या के सम्बन्ध में एकरूपता नहीं मिलती है। जैनागमों में चेतनापरक शब्द संज्ञा (सण्णा) व्यवहार के प्रेरक तत्त्वों के अर्थ में रूढ़ हो गया है। संज्ञा शारीरिक आवश्यकताओं एवं भावों की मानसिक चेतना है, जो परवर्ती व्यवहार की प्रेरक बनती है। किसी सीमा तक जैन-दर्शन के संज्ञा शब्द को मूलप्रवृत्ति का समानार्थक माना जा सकता है। जैनागमों में संज्ञा का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है, जिनमें निम्न तीन वर्गीकरण प्रमुख हैं —

(अ) चतुर्विध वर्गीकरण— १. आहार संज्ञा, २. भय संज्ञा, ३. परिग्रह संज्ञा और ४. मैथुन संज्ञा।

(ब) दशविध वर्गीकरण— १. आहार, २. भय, ३. परिग्रह, ४. मैथुन, ५. क्रोध, ६. मान, ७. माया, ८. लोभ और १० ओघ।[१०]

(स) षोडशविध वर्गीकरण— १. आहार, २. भय, ३. परिग्रह, ४. मैथुन, ५. सुख, ६. दुःख, ७. मोह, ८. विचिकित्सा, ९. क्रोध, १०. मान, ११. माया, १२. लोभ, १३. शोक, १४. लोक, १५. धर्म और १६. ओघ।[११]

उपर्युक्त वर्गीकरणों में प्रथम वर्गीकरण केवल शारीरिक प्रेरकों का विवेचन प्रस्तुत करता है, जबकि अन्तिम वर्गीकरण में शारीरिक के साथ बौद्धिक, मानसिक एवं सामाजिक प्रेरकों का भी समावेश हो जाता है। दूसरे एवं तीसरे वर्गीकरण में क्रोधादि कुछ कषायों को भी संज्ञा के वर्गीकरण में समाविष्ट कर लिया गया है। संज्ञा और कषाय में अन्तर ठीक उसी आधार पर किया जा सकता है जिस आधार पर

पाश्चात्य मनोविज्ञान में मूलप्रवृत्ति और उसके संलग्न संवेग में किया जाता है। क्रोध की संज्ञा क्रोध कषाय से ठीक उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार आक्रामकता की मूल प्रवृत्ति से क्रोध का संवेग भिन्न है। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर जैन-दर्शन की संज्ञा एवं मनोविज्ञान की मूल प्रवृत्तियों के वर्गीकरण में बहुत कुछ समरूपता पायी जाती है।

जैन-दर्शन का सुखवादी दृष्टिकोण

आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह भी बताता है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिए होता है, कि उसका जीवनशक्ति को बनाए रखने की दृष्टि से दैहिक मूल्य है और दु:ख इसलिए प्रतिकूल होता है कि वह जीवन-शक्ति का ह्रास करता है। यही सुख-दु:ख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक है। जैन-दार्शनिक भी प्राणीय व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख-दु:ख के नियम को स्वीकार करते हैं।[१२] अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण, यह इन्द्रिय-स्वभाव है। अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति यह एक नैसर्गिक तथ्य है, क्योंकि सुख अनुकूल और दु:ख प्रतिकूल होता है, इसलिए प्राणी सुख को प्राप्त करना चाहता है और दु:ख से बचना चाहता है। वस्तुत: वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दु:ख का रूप ले लेती है जिससे वासना की पूर्ति हो वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना-पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो वह दु:ख। इस प्रकार वासना से ही सुख-दु:ख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का नियमन करने लगते हैं। किन्तु जैन-दर्शन में भौतिक सुखों से भिन्न एक आध्यात्मिक सुख भी माना गया है, जो वासना-क्षय से उपलब्ध होता है।

दमन का प्रत्यय और जैन-दर्शन

जैन-दर्शन में इन्द्रिय-संयम पर काफी बल दिया गया है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या इन्द्रिय-निरोध सम्भव है? आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध एक अस्वाभाविक तथ्य है। आँख के समक्ष जब उसका विषय प्रस्तुत होता है तो वह उसके सौन्दर्य-दर्शन से वञ्चित नहीं रह सकती। भोजन करते समय स्वाद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: यह विचारणीय प्रश्न है कि इन्द्रिय-दमन के सम्बन्ध में जैन-दर्शन का दृष्टिकोण क्या आधुनिक मनोविज्ञानिक दृष्टिकोण से सहमत है? जैन-दर्शन इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यही कहता है कि इन्द्रिय-व्यापारों के निरोध का अर्थ इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख करना नहीं, वरन् विषय-सेवन के मूल्य में जो निहित राग-द्वेष है उसे समाप्त करना है। इस सम्बन्ध में जैनागम आचाराङ्ग सूत्र में जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उसमें कहा गया है कि यह शक्य नहीं कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएँ, अत: शब्दों का नहीं शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि आँखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाए, अत: रूप का नहीं, अपितु रूप के प्रति जाग्रत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं कि नासिका के समक्ष आया हुआ सुगन्ध सूंघने में न आए, अत: गन्ध का नहीं, किन्तु गन्ध के प्रति जगने वाली राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए, अत: रस का नहीं, किन्तु रस के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि शरीर के सम्पर्क से होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, अत: स्पर्श का नहीं, किन्तु स्पर्श के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए।[१३] जैन-दार्शनिक कहते हैं कि इन्द्रियों के मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए ही राग-द्वेष का कारण बनते हैं, वीतरागी (अनासक्त) के लिए वे राग-द्वेष का करण नहीं होते हैं। ये विषय, रागी पुरुषों के लिए ही दु:ख (बन्धन) के कारण होते हैं, वीतरागियों के लिए बन्धन या दु:ख का कारण नहीं हो सकते हैं। काम-भोग न किसी को बन्धन में डालते हैं और न किसी को मुक्त ही कर सकते हैं, किन्तु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है।[१४]

जैन-दर्शन के अनुसार साधंना का सच्चा मार्ग औपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है। औपशमिक-मार्ग का अर्थ वासनाओं का दमन है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग ही औपशमिक मार्ग है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक की भाषा में यह दमन का मार्ग है। जबकि क्षायिक-मार्ग वासनाओं के निरसन का मार्ग है, वह वासनाओं से ऊपर उठाता है। यह दमन नहीं अपितु चित्त-विशुद्धि है। दमन तो मानसिक गन्दगी को ढ़कना मात्र है और जैन-दर्शन इस प्रकार के दमन को स्वीकार नहीं करता। जैन-दार्शनिकों ने गुणस्थान प्रकरण में स्पष्ट रूप से यह बताया है कि वासनाओं को दबाकर आगे बढ़ने वाला साधक विकास की अग्रिम कक्षाओं से अनिवार्यतया पदच्युत हो जाता है। जैन-विचारणा के अनुसार यदि कोई साधक उपशम या दमन के आधार पर नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता है तो वह पूर्णता के लक्ष्य के अत्यधिक निकट पहुँचकर भी पुन: पतित हो जाता है। उनकी पारिभाषिक शब्दावली में ऐसा साधक ११वें गुणस्थान तक पहुँच कर वहाँ से ऐसा पतित होता है कि पुन: निम्नतम प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन भी आधुनिक मनोविज्ञान के समान ही दमन को साधना का सच्चा मार्ग नहीं मानता है। उनके अनुसार साधना का सच्चा मार्ग वासनाओं का दमन नहीं अपितु उनके ऊपर उठ जाना है। वह इन्द्रिय-निग्रह नहीं अपितु ऐन्द्रिक अनुभूतियों में भी मन की वीतरागता या समत्व की अवस्था है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन अपनी विवेचनाओं में मनोवैज्ञानिक आधारों पर खड़ा हुआ है। उसके कषाय-सिद्धान्त और लेश्या-सिद्धान्त भी उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं। यहाँ उन सबकी गहराइयों में जाना सम्भव नहीं है। अत: हम केवल उनका यह नाम-निर्देश मात्र करके ही विराम करना चाहेंगे।

सन्दर्भ :

१. आयाए सामाइए आया सामाइस्स अट्ठे । — भगवतीसूत्र

२. डॉ० राधाकृष्णन् जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृष्ठ २५९।

३. हर्बर्ट स्पेन्सर, फर्स्ट प्रिन्सपल्स, वाट्स एण्ड को०, छठा संस्करण लंदन, पृष्ठ ६६।

४. C.D. Board, Five Types of Ethical Theories, p. 16.

५. F.H. Bradley, Ethical Studies, Oxford University Publication, Chapter II.

६. समयसार टीका, गाथा ३०५।

७. योगशास्त्र, ४/५।

८. अध्यात्मतत्त्वालोक, ४/६।

९. आचाराङ्ग, १/३/२।

१०. समवायाङ्ग ४-५, प्रज्ञापना पद ८।

११. अभिधान-राजेन्द्र, खण्ड ७, पृ० ३०१।

१२. आचाराङ्ग, १/२/३/८१।

१३. आचाराङ्ग, २/३/१५/१०१-१०५।

१४. उत्तराध्ययन ३२/१००, १०१।

●

नैतिक-प्रतिमान : एक या अनेक ?

सामान्यतया एक विचारशील प्राणी के नाते मनुष्य को स्वयं अपने और दूसरे व्यक्तियों के चरित्र एवं व्यवहार की उचितता तथा अनुचितता के सम्बन्ध में अथवा मानव जीवन के किसी साध्य के शुभत्व और अशुभत्व के बारे में निर्णय लेने होते हैं। युगों से मनुष्य इस प्रकार के निर्णय लेता रहा है कि अमुक शुभ है और अमुक अशुभ है। यह करना उचित है और यह करना अनुचित है। फिर भी मानव-जीवन के साध्य एवं आचरण के सम्बन्ध में लिये जाने वाले इन निर्णयों को लेकर मनुष्यों में एकरूपता नहीं देखी जाती है। एक ही प्रकार के आचरण को किसी एक देश, काल एवं सभ्यता में उचित ठहराया जाता है तो दूसरे में अनुचित। मात्र यही नहीं, एक व्यक्ति जिसे अच्छा (शुभ) कहता है, दूसरा व्यक्ति उसी आचार-व्यवहार को बुरा (अशुभ) कहता है। मूल प्रश्न यह है कि नैतिकता-सम्बन्धी इन निर्णयों की विविधता का क्या कारण है— वस्तुत: मनुष्यों की नीति-सम्बन्धी अवधारणाओं, मापदण्डों या प्रतिमानों की विविधता ही नैतिक निर्णयों की इस भिन्नता का कारण मानी जा सकती है। जब भी हम नैतिक मूल्याङ्कन करते हैं तो हमारे सामने नीति सम्बन्धी कोई मापदण्ड, प्रतिमान या मानक (Moral Standard) अवश्य होता है, जिसके आधार पर हम किसी व्यक्ति के चरित्र, आचरण अथवा कर्म का नैतिक मूल्यांकन (Moral Valuation) करते हैं। विभिन्न देश काल, समाज और संस्कृतियों में ये नैतिक मापदण्ड या प्रतिमान अलग-अलग रहे हैं और समय-समय पर इनमें परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन ग्रीक संस्कृति में जहाँ साहस और न्याय को नैतिकता का प्रतिमान माना जाता था, वहीं परवर्ती ईसाई संस्कृति में सहनशीलता और त्याग को नैतिकता का प्रतिमान माना जाने लगा। यह एक वास्तविकता है कि नैतिक प्रतिमान या नैतिकता के मापदण्ड अनेक रहे हैं तथा विभिन्न व्यक्ति और विभिन्न समाज अलग-अलग नैतिक प्रतिमानों का उपयोग करते रहे हैं। मात्र यही नहीं एक ही व्यक्ति अपने ही जीवन में दो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न नैतिक प्रतिमानों का उपयोग करता है। नैतिक प्रतिमान के इस प्रश्न पर न केवल जन साधारण में अपितु नीतिवेत्ताओं में भी गहरा मतभेद है।

नैतिक प्रतिमानों (Moral Standards) की इस विविधता और परिवर्तनशीलता को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। क्या ऐसे सार्वभौम नैतिक प्रतिमान सम्भव हैं जिन्हें सार्वलौकिक और सार्वकालीन मान्यता प्राप्त हो? यद्यपि अनेक नीतिवेत्ताओं ने अपने नैतिक प्रतिमान का सार्वलौकिक, सार्वकालीन एवं सार्वजनीन सिद्ध करने का दावा अवश्य किया है, किन्तु जब वे ही आपस में एक मत नहीं हैं, तो फिर उनके इस दावे को कैसे मान्य किया जा सकता है? नीतिशास्त्र के इतिहास में नियमवादी सिद्धान्तों में कबीले के बाह्यनियमों की अवधारणा से लेकर अन्तरात्मा के आदेश तक, तथा साध्यवादी परम्परा में स्थूल स्वार्थमूलक सुखवाद से प्रारम्भ करके बुद्धिवाद, पूर्णतावाद और मूल्यवाद तक अनेक नैतिक प्रतिमान प्रस्तुत किये गये हैं।

यदि हम नैतिक मूल्याङ्कन का आधार नैतिक आवेगों (Moral Sentiments) को स्वीकार करते हैं, तो नैतिक मूल्याङ्कन सम्भव ही नहीं होगा, उनमें विविधता स्वाभाविक है। नैतिक आवेगों की इस विविधता को समकालीन विचारक एडवर्ड वेस्टरमार्क ने स्वयं स्वीकार किया है। उनके अनुसार इस विविधता का कारण व्यक्तियों के परिवेश, धर्म और विश्वासों में पायी जाने वाली भिन्नता है। जो विचारक कर्म के नैतिक औचित्य एवं अनौचित्य के निर्धारण के लिये विधानवादी प्रतिमान अपनाते हैं और जाति, समाज, राज्य या धर्म के द्वारा प्रस्तुत विधि-निषेध (यह करो और यह मत करो) की नियमावलियों को नैतिक प्रतिमान स्वीकार करते हैं, उनमें भी प्रथम तो इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद है कि जाति (समाज), राज्यशासन और धर्मग्रन्थों द्वारा प्रस्तुत अनेक नियमावलियों में से किसे स्वीकार किया जावे? पुन: प्रत्येक जाति, राज्य और धर्मग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत ये नियमावलियाँ भी अलग-अलग